1919 का भारत सरकार अधिनियम – द्वैध शासन

1919 के भारत सरकार अधिनियम की सबसे बड़ी बिशेषता थी प्रान्तों में द्वैध शासन की स्थापना। इस अधिनियम से पूर्व भारत में एकात्मक सरकार थी एवं सारे बिषय केन्द्र के अधीन थे। इस अधिनियम में पहली बार ब्रिटिश सरकार ने भारत में अपना उद्देश्य उत्तरदायी सरकार की स्थापना को बताया। इसके लिए पहली बार केन्द्रिय एवं प्रांतीय बिषयों का बँटवारा हुआ। बाद में प्रांतीय बिषयों को भी दो भागों में विभाजित किया गया - रक्षित बिषय तथा हस्तांतरित बिषय। रक्षित बिषयों के शासन को गवर्नर अपनी कार्यकारिणी परिषद की सहायता से चलाता था। उसकी कार्यकारिणी परिषद के सदस्य प्रांतीय विधान परिषद के प्रति उत्तरदायी नहीं होते थे। प्रांतो में इसी प्रकार की शासन व्यवस्था को द्वैध शासन कहा गया।

मांटेग्यू रिपोर्ट के आधार पर प्रांतीय बिषयों को दो भागों में बाँटा गया। ये थे रक्षित और हस्तांतरित। भूमि कर एवं भूमि संबंधी कानून, पुलिस, जेल, न्याय व्यवस्था प्रांतीय कोष और उनके क्षण, सिंचाई, कानून और व्यवस्था, ऋण, पुस्तकों समाचारपत्रों और मुद्रणालयों पर नियंत्रण आदि रक्षित बिषय थे। स्थानीय स्वशासन, शिक्षा (यूरोपियनों और आँग्ल भारतीय की शिक्षा को छोड़कर), कृषि और उद्योगों का विकास, मछली उद्योग, सहकारी समितियाँ, मादक पदार्थ, पुस्तकालय, सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफाई, चिकित्सा विभाग, जंगल, जन्म-मरण के आँकड़े, खाद्य पदार्थों में मिलावट, माप-तौल एवं समीकरण, हस्तांतरित बिषय के अंतर्गत आते थे। इस प्रकार 50 बिषयों में से लगभग 22 बिषय हस्तांतरित रखे गए।

50-22

रक्षित विभागों का प्रशासन गवर्नर को अपने कार्यकारिणी सभासदों के सहयोग से चलाना था। ये सभासद ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी थे। किसी भी प्रांत में अधिक से अधिक 4 सभासद हो सकते थे। लेकिन व्यवहारतः केवल तीन प्रेसीडेन्सी नगरों में ही 4 सभासद नियुक्त किए गए। शेष 6 प्रान्तों में केवल दो सभासद नियुक्त किए गए। सभासदों की कुल संख्या का आधा भारतीयों का होना था। सभासद प्रांतीय विधायिकी परिषद के पहले सदस्य होते थे। प्रांतीय गवर्नर की सिफारिश पर उनकी नियुक्ति पाँच बर्षों के लिए सम्राट की सरकार द्वारा होती थी। सम्राट के प्रसाद पर्यन्त वे अपने पदों पर आसीन रहते थे। गवर्नर उनका वेतन तय करता था जो प्रांतों के राजस्व से दिया जाता था। ये सभासद किसी भी रक्षित बिषय से संबंधित विधेयक को सदन के पटल पर रख सकते थे और विभागीय कार्यों के बारे में प्रश्न पूछे जाने पर विधानसभा में उत्तर दे सकते थे। ये विधानसभा के प्रति उत्तरदायी नहीं थे। वे अपने कार्यों के लिए ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी थे। उनकी बैठकों की अध्यक्षता गवर्नर करता था। इन बैठकों में बहुमत पर ही किसी निर्णय पर पहुँचा जाता था।

Scanned with CamScanner

मतों की बराबरी पर गवर्नर अपने निर्णायक मत का प्रयोग करता था। असाधारण परिस्थिति पैदा होने पर गवर्नर बहुमत की उपेक्षा भी कर सकता था।

हस्तांतरित विषय मंत्रियों के हाथ में रखे गए थे। मंत्रियों की संख्या कोई निश्चित नहीं थी, लेकिन व्यवहारतः तीन श्रेणी-उन्ही प्रांतों में तीन मंत्री एवं अन्य प्रांतों में दो मंत्री नियुक्त किए गए थे। मंत्री पद पर नियुक्त होने के लिए किसी व्यक्ति को प्रांतीय विधान परिषद का निर्वाचित सदस्य होना आवश्यक था। यदि नहीं होता तो मंत्री पद पर नियुक्ति के 6 महीने के अंदर ही उसे प्रांतीय परिषद का निर्वाचित सदस्य होना पड़ता था। अन्यथा उसे पद त्याग करना पड़ता था। मंत्रियों की नियुक्ति गवर्नर द्वारा होती थी और वही उन्हें हटा भी सकता था। परिषद के विश्वासपात्र निर्वाचित सदस्य ही मंत्री पद पर नियुक्त होते थे। मंत्रियों का वेतन प्रांतीय विधानसभा ही निर्धारित करती थी। प्रतिवर्ष वेतन दिए जाने के प्रश्न पर मतदान होता था। जिस मंत्री का कार्य संतोषप्रद नहीं होता उसका वेतन काट लिया जाता था। तब उस मंत्री को अपना पद त्याग देना पड़ता था। इसके अतिरिक्त अविश्वास प्रस्ताव पास करके भी किसी मंत्री को हटाया जा सकता था। उस समय मंत्रीमंडल के समूह उत्तरदायित्व की कोई अवधारणा नहीं थी। हस्तांतरित विषयों में शासन संचालन में मंत्रीगण गवर्नर से परामर्श लेते थे। गवर्नर मंत्रियों की संयुक्त बैठक की अध्यक्षता करता था।

प्रांतीय प्रशासन में गवर्नर की वही स्थिति थी जो केन्द्रीय शासन में गवर्नर जनरल की थी। वह द्वैध शासन का आधार था। वह मंत्रियों को नियुक्त करता था एवं पदच्युत करता था। वह मंत्रियों सभा के बीच विभागों का वितरण करता था। हस्तांतरित विषयों के संचालन में वह विशेष परिस्थितियों में किसी मंत्री के परामर्श को ठुकरा सकता था। सभासद भी उसके हाथ के खिलौने थे। वे भी उसी के सिफारिश पर नियुक्त होते थे। वह किसी भी सभासद को पदच्युत कर सकता था। रक्षित विषय के संचालन का पूर्ण दायित्व उसी के ऊपर था। विशेष परिस्थितियों में वह हस्तांतरित विषयों का संचालन भी अपने हाथों में ले सकता था। उसने ऐसा कार्य मध्यप्रदेश एवं बंगाल में किया।

गवर्नर विधानपरिषद को बुलाता था। वह प्रथम चार वर्षों के लिए उसके सभापति की नियुक्ति करता था। उसके बाद सभापति परिषद द्वारा निर्वाचित होता था। गवर्नर परिषद के कार्यकाल को एक वर्ष के लिए बढ़ा सकता था। वह परिषद के अधिवेशन को स्थगित कर सकता था। वह किसी विधेयक पर पुनर्विचार के लिए उसे लौटा सकता था। प्रत्येक विधेयक पर उसकी सहमति आवश्यक थी। वह किसी विधेयक को बीच में ही रोक सकता था या गवर्नर जनरल की स्वीकृति के लिए उसे अग्रसारित

Scanned with CamScanner

कर सकता था।

गवर्नर को महत्वपूर्ण वित्तीय अधिकार भी प्राप्त थे। उसके आदेश के बिना कोई बजट प्रांतीय विधान परिषद में पेश नहीं किया जा सकता था। उसके सिफारिश पर ही किसी मद में व्यय की जानेवाली राशि मंजूर होती थी। रक्षित विषयों पर कितना व्यय हो और हस्तांतरित विषय पर कितना हो, उसके विषय में निर्णय अंतिम रूप से वही करता था।

1 अप्रैल 1921 को भारत के आठ प्रांतों में यथा बंगाल, मद्रास, बम्बई, संयुक्त प्रांत, पंजाब, बिहार एवं उड़ीसा में द्वैध शासन प्रणाली को लागू किया गया। इस प्रकार नौ प्रांतों में द्वैध शासन 1 अप्रैल 1937 तक लागू रहा। इस अवधि में मध्य प्रांत में यह पहली बार 1924 से 1926 तक रुका रहा। बंगाल में यह दो बार 1924 से 1926 तक एवं पुनः 1929 के कुछ महीनों के लिए रुका रहा क्योंकि उस प्रांत में उसी दल का बहुमत था जो द्वैध शासन से असंतुष्ट था।

भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस ने द्वैध शासन के अंतर्गत हुये 1920-21 के चुनाव का बहिष्कार किया था। इससे उदारवादियों को 1921-23 में मंत्री पद पर पहुँचने का अच्छा मौका मिला। 1924 के चुनाव में काँग्रेस ने भाग लिया और शुरु में ही काँग्रेस ने द्वैध शासन की कार्यवाहियों पर रिपोर्ट देने के लिए सिफारिश की। 1924 में ही मुडीमैन कमिटी की नियुक्ति की गई। इस कमिटी ने रिपोर्ट दी कि द्वैध शासन के सुचारु रूप से चलने के लिए इसमें कुछ परिवर्तन की आवश्यकता थी। तेजबहादुर सप्रू एवं मुहम्मद अलि जिन्ना ने कहा कि द्वैध शासन मौलिक रूप से गलत है अतः इसकी भलाई आवश्यक है।

जब द्वैध शासन व्यवहार में लाया गया तो इसमें कई खामियाँ उजागर हुई। इन खामियों को दो कोटियों में रखा जा सकता है। पहली कोटि के तहत कहा जा सकता है कि द्वैध शासन के तहत सिद्धांत ही गलत था। प्रशासन दो भागों - रक्षित एवं हस्तांतरित में विभाजन जो एक दूसरे से स्वतंत्र थे। सरकारों की राजनीति, सिद्धांत तथा प्रक्रिया के विरुद्ध था। राज्य के विभिन्न संगठनों को एक-दूसरे से पूर्णतया अलग नहीं किया जा सकता अपितु उसमें तादात्म्य बना रहता है। इस संदर्भ में मद्रास के मंत्री सर के॰पी॰ रेड्डी ने लिखा "मैं एक विकास मंत्री था, किन्तु मेरे अधिन वन नहीं थे। मैं कृषि मंत्री था लेकिन सिंचाई विभाग मेरे अधिन नहीं था। मैं उद्योग मंत्री था लेकिन कारखाने, भापयंत्र तथा जल विद्युत, खानें अथवा श्रम विभाग मेरे अधिन न होकर रक्षित विषय थे जबकि शिक्षा एक हस्तांतरित विभाग था।

द्वैध शासन प्रणाली इस बात पर बहुत निर्भर थी कि गवर्नर अपने अधिकारों का प्रयोग किस तरह करता है। वह हस्तांतरित और

Scanned with CamScanner

रक्षित विभागों के बीच पैदा हुये मतभेद को किस तरह दूर करता है। इस बात की भी आवश्यकता थी कि वह जनता की इच्छाओं और आकांक्षाओं को समझे और उनकी कद्र करे। इसी हालत में वह मंत्रियों की कठिनाइयों को समझ सकता था। यदि वह मंत्रियों के कार्यों में अनुचित हस्तक्षेप करता और आवश्यकतानुसार उन्हें सहयोग नहीं देता तो यह नया प्रयोग कभी भी सफल नहीं हो सकता था। वास्तव में उसके हाथों में इतने अधिकार दे दिए गए कि वह एक संवैधानिक अध्यक्ष नहीं रहकर एक स्वेच्छाचारी शासक बन गया। उसने अनुचित ढंग से मंत्रियों के कार्यों में हस्तक्षेप करना शुरु किया और मंत्रियों ने यदि उसका विरोध किया तो उन्हें तत्काल पदच्युत कर दिया। इस संदर्भ में मध्य प्रान्त के मंत्री श्री केलकर ने कहा कि यद्यपि गवर्नर ने नीति के मामलों में उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता दी, विस्तार की बातों में उनकी नहीं चलने दी। उत्तर प्रदेश के मंत्री श्री चिंतामणि ने शिकायत की कि सारी शक्ति गवर्नर के हाथ थी और उसे तो लाइब्रेरी कमिटी के किसी सदस्य को मनोनीत करने का भी अधिकार नहीं था।

मान्टफोर्ड सुधारों ने रक्षित एवं हस्तांतरित विभागों के बीच संयुक्त विचार-विमर्श की सिफारिश की थी। लेकिन मद्रास के गवर्नर को छोड़कर अन्य गवर्नरों ने इस बात पर कोई ध्यान नहीं दिया। मंत्रियों से सदैव आशा की जाती थी कि विधान परिषद में वे अपने स्थायी सभासदों की प्रत्येक बात का समर्थन करेंगे परन्तु उनसे रक्षित विभागों के बारे में न तो कोई परामर्श लिया जाता था और न ही उन विभागों को प्रभावित करने का उनके पास कोई अवसर था।

प्रांतीय विधान परिषदों का ढाँचा अत्यंत दोषपूर्ण था। उसमें लगभग 30 प्रतिशत सदस्य सरकारी अधिकारी या सरकार द्वारा मनोनित गैर सरकारी अधिकारी थे। निर्वाचित सदस्य भी विभिन्न वर्गों, समुदायों और हितों का प्रतिनिधित्व करते थे। उनमें से बहुत से ऐसे सदस्य थे जो अपना उल्लू सीधा करने के लिए सरकार की नजरों में अच्छा बना रहना चाहते थे और सरकार की अनुचित नीति का भी समर्थन करते थे। इससे द्वैध शासन प्रणाली की मुख्य भावना को ठेस पहुँचना स्वाभाविक था।

वित्तीय कठिनाइयों के कारण द्वैध शासन प्रणाली की मुख्य भावना एकदम कारगर सिद्ध नहीं हो पायी। हस्तांतरित विभागों को जानबूझकर कोष मुहैया नहीं करवाया गया। और धन के अभाव में मंत्रीगण कोई भी विकास का कार्य करने में सक्षम नहीं थे। वित्त रक्षित विभाग था और इसमें ऐसे सभासद को प्रभारी बनाया जाता था जो जानबूझ कर हस्तांतरित विभागों के खिलाफ राग द्वेष की नीति अपनाता था। निश्चित रुप से जब कोष के ऊपर मंत्रियों का नियंत्रण

नहीं था तो उत्तरदायी शासन की बात करना बेमानी हो जाता है। द्वैध शासन के कारगर नहीं होने का कारण यह भी था कि मंत्रीगण विधान परिषद के निर्वाचित नहीं होते थे। लेकिन उनकी गवर्नर करता था और गवर्नर के प्रसाद पर्यन्त ही वे अपने पदों पर बने रहते थे। इस स्थिति में कुछ चाटुकार मंत्रियों ने विधान परिषद या जनता को नजर अंदाज करना शुरु कर दिया और दिन-रात अपना समय गवर्नर को खुश करने में लगाने लगे। स्वाभाविक था कि द्वैध शासन की मूल भावना को ठेस पहुँचना स्वभाविक था

द्वैध शासन की असफलता के कुछ बाह्य कारण भी महत्वपूर्ण थे। जैसे ही द्वैध शासन प्रणाली को व्यवहारिक रुप दिया गया सारे देश में असहयोग एवं खिलाफत आंदोलन की शुरुआत हो गयी। इसने भारत के लोगों की बढ़ती हुयी आंकाक्षाओं को पूरा करने में सफलता नहीं पायी। फलतः भारत के लोगों ने इसकी आलोचना शुरु कर दी। इन आलोचकों में सबसे प्रमुख थे स्वराज पार्टी के नेता लोग। कॉंग्रेस ने विधानमंडल के बहिष्कार की नीति अपनाई थी लेकिन स्वराज्यवादियों ने मोतीलाल नेहरु एवं चितरंजन दास के नेतृत्व में विधान मंडल में प्रवेश कर सरकार के खिलाफ असहयोग की नीति अपनाई। उनकी नीतियों ने द्वैध शासन प्रणाली का पर्दाफाश कर दिया। कालांतर में महात्मा गाँधी के नेतृत्व में चल रहे सविनय अविज्ञा आंदोलन ने भी इस प्रणाली पर प्रश्न चिन्ह खड़ा कर दिया। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में कॉंग्रेस ने अधिराज्य स्थिति की माँग की। लेकिन ब्रिटिश सरकार ने उदासीनता की नीति अपनाई। उपर्युक्त सभी कारणों के चलते 1919 के भारतीय अधिनियम के तहत निर्मित प्रांतों में द्वैध शासन प्रणाली की नीति असफल रही और आखिरकार 1935 के भारत सरकार अधिनियम के तहत इसे समाप्त कर प्रांतीय स्वायत्तता की बात की गयी।

Scanned with CamScanner